



अभिनवधारा

ABHINAVDHARA

International Journal of Innovation in Indic Studies

www.ijis-org.com

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित जीवन-दर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता

Aparna Dhir Khandelwal

Assistant Professor

Institute of Advanced Sciences, Dartmouth, M.A, USA

Received: 15/08/2021 | Accepted: 16/08/2021 | Published: 07/09/2021

भूमिका

भारतीय संस्कृति की गणना विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में होती है। भारतीय संस्कृति प्रकृत्या अध्यात्म प्रधान है। वर्तमान काल में भी हमारे जीवन-मूल्य वही है, जो वैदिक काल में थे। वैदिक जीवन-शैली एवं दर्शन को जन-जन तक यदि कोई लेकर आया है तो वह है 'श्रीमद्भगवद्गीता'। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा को प्रखर बनाने में श्रीमद्भगवद्गीता जैसी अद्भुत विचारधारा का सबसे बड़ा योगदान है। श्रीकृष्ण की वाणी के रूप में कही गई श्रीमद्भगवद्गीता को वास्तव में उपनिषदों का रस और संसार के सभी धर्मशास्त्रों में मुकुटमणि ही जानना चाहिए। जीवन की सत्यता, ब्रह्म का स्वरूप, जीवन-जीने की पति, जीवन का लक्ष्य, लक्ष्य-प्राप्ति के साधन इत्यादि विषयों को श्रीकृष्ण ने सिद्धान्तों के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्त किया है। यह सभी सिद्धान्त हजारों वर्ष बाद भी हमारे जीवन में विशेष रूप से उपयोगी है, यथा-

मूल विषय

ईश्वर की सर्वव्याप्तता

भारतीय संस्कृति में यह सर्वमान्य है कि बाह्य संसार की अनेकता से परे एक परमसत्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने ईश्वर की सर्वव्याप्तता को स्पष्ट करने हेतु तथा सबको एक रूप मानने के लिए कहा है-

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रो मणिगणा इव'। 7.7

अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रा में सूत्रा के मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। इसी विश्वास के कारण भारतीय संस्कृति में आज भी ईश्वर को एक मानकर विभिन्न धर्म अथवा सम्प्रदाय उस ईश्वर को प्राप्त करने के मार्ग कहे जाते हैं। 'विष्णु सहस्रनाम' में वर्णित है कि किसी भी देव की पूजा करें, वह परम परमेश्वर की ही पूजा हो जाती है। सम्राट अशोक ने इस सिद्धान्त में श्रद्धा रखते हुए अपनी प्रजा को सभी धर्मों के प्रति समान आदर रखने का अनुरोध किया था। आधुनिक युग

के महापुरुषों यथा- राजा राममोहन रॉय, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गाँधी ने भी सभी धर्मों की मूल में विद्यमान परमसत्य को समझने पर बल दिया। इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति में प्राप्त सहिष्णुता और समन्वयशीलता जैसे गुणों में इस सिद्धान्त की भूमिका रही है। आधुनिक सन्दर्भ में अपने को समाज की उन्नति एवं एकता के लिए साध्न बनाना चाहिए क्योंकि मानव को सदैव अपने आप को समाज का अभिन्न अंग मानना चाहिए।

त्याग-भाव से लोभ रहित जीवन-शैली

विद्वानों ने त्याग के अनेक अर्थ किये जैसे सातवलेकर के अनुसार दान देकर अवशिष्ट रहे हुए का उपभोग करना चाहिए, स्वामी दयानन्द के अनुसार जगत् से चित् को हटाकर भोगों का उपभोग करना चाहिए, मध्वाचार्य और गोपालानन्दस्वामी के अनुसार जो कुछ ईश्वर दे केवल उसका ही भोग करना चाहिए।

वस्तुतः जिस प्रकार सृष्टि में वृक्ष प्राणियों के लिए O₂ रूपी प्राणवायु का त्याग कर प्राणियों द्वारा निष्कासित CO₂ रूपी वायु का भोग करते हैं। गाय भी जिस प्रकार अपने शरीर एवं अपने बछड़े के पालनार्थ दुध की मात्रा रखकर शेष दुध की मात्रा का मनुष्यों के लिए त्याग करती है। उसी प्रकार मानव को भी सदैव त्याग-भाव से अपने जीवन में चलना चाहिए।

त्याग-भाव से भोग की भावना समर्पण की भावना को भी जागृत करती है। भारतीय चिन्तन परम्परा में श्रीराम का चरित्र इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। उन्होंने सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं भोग को त्याग कर आन्तरिक ऐश्वर्य को प्राप्त किया। आज भी श्रीराम का आदर्श व्यक्तित्व हमें प्रभावित करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मर्म को न जानकर किये हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से मुझ परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल परम शान्ति मिलती है'।

'त्यागात् शान्तिरनन्तरम्'। 12.12

अभिप्राय यह है कि विषयासक्ति ही मनुष्य को बाँधे वाली है। ज्ञान, ध्यान और अभ्यास से भी मनुष्य को भगवत्प्राप्ति तभी होती है, जब कि उसे समस्त भोगों से वैराग्य हो जाता है तथा वह त्याग-भाव से जीवन जीता है।

आज के सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रलोभन में पँसकर अपने चरित्र से च्युत हो जाते हैं और दूसरों के प्रति अकरणीय अथवा अन्यायपूर्ण आचरण करने लगते हैं। परिणामतः न ही उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होती है, न ही मानसिक संतोष क्योंकि लोभ की कोई सीमा नहीं होती। ऐसे लालची व्यक्तियों का जीवन सदैव कष्ट, पीड़ा और दुर्भाग्य से पूर्ण होता है। अतः लोभ का परित्याग कर सन्तुष्ट रहकर जीवन-यापन करने का उपदेश दिया गया है। वास्तव में जो व्यक्ति आत्म-सन्तुष्ट होगा वही भोग करते हुए त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है। यही सन्तुष्ट व्यक्ति को परमानन्द की अनुभूति कराती है।

कर्मनिष्ठा का उपदेश

वैदिक संस्कृति आशावादी संस्कृति कहलाती है। तत्कालीन सामाज में दीर्घायु अथवा शतायु की कामना सर्वत्रा मन्त्रों में की गई है।

इसी विचारधरा का अनुसरण करते हुए ईशावास्योपनिषद् में भी 100 वर्षों तक जीने की इच्छा 'जिजीविषेच्छतंसमाः' प्रकट की गई है। ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 100 वर्ष तक जीने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को शुभकर्मों को करते हुए इस जगत् में रहने का आदेश दिया गया है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार इस संसार में मनुष्य बिना कर्म या क्रिया करे एक क्षण भी नहीं रह सकता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिये बाध्य किया जाता है।

'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' 3.5

साधारणतया शरीर के प्रत्येक अर्घे द्वारा किया गया कार्य कर्म कहलाता है, जैसे- मन द्वारा किया गया संकल्प, वाणी द्वारा भाषण, चक्षु द्वारा दर्शन तथा श्रोत्रा द्वारा श्रवण और जब तक शरीर रहता है तब तक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। श्रीकृष्ण शास्त्राविहित कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। पुण्य-कर्मों को करने से मनुष्य पुण्यात्मा होता है और पाप-कर्मों में आसक्त रहने से मनुष्य पापात्मा होता है। अतः शुभकर्मों को करते हुए पुण्यात्मा ज्ञानी मनुष्य सदाचरण से युक्त होकर उत्तम गति को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त कर्मों से बचने का कोई अन्य मार्ग नहीं है। अभिप्रायः यह है कि कर्मों को अनासक्त भाव से ;अर्थात् सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान पाने की लालसा से रहितद्ध करने पर मनुष्य उन कर्मों से प्राप्त होने वाले पाप-पुण्य आदि पफल से संयुक्त नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य को न कर्म और न ही उन कर्मों के पफल किसी प्रकार के बन्ध में बाँधते हैं अर्थात् मनुष्य आवागमन के चक्र में नहीं घूमता। अनासक्ति एवं निष्काम भावना के विषय में डॉ. राधकृष्णन् की मान्यता है कि बाह्य पदार्थों के बन्ध से मुक्त होने के लिए न ही एकान्तवास की आवश्यकता है और न ही तपस्या की। अतः निष्काम-भावना से किये गये कर्म व्यक्ति के चित्त-शु(कर उसे ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर करते हैं। ईशावास्योपनिषद् का कर्मनिष्ठा का उपदेश ही श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग के रूप में पल्लवित हुआ-

कर्मण्येवाधिक्रिस्ते मा पफलेषु कदाचन।

मा कर्मपफलहेतुर्भूमा ते सर्वैस्त्वकर्मणि।। 2.47

एवं

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।। 3.19

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म करने में मनुष्य का अधिकार है, कर्मों के फलों में कभी नहीं अतः मनुष्य को सदा अनासक्त भाव से कर्म करते रहना चाहिए। आधुनिक सन्दर्भ में व्यक्ति को सदैव कर्मों की गति को पहचानने वाली दूरदृष्टि रखकर अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रहना चाहिए।

एकात्म-दर्शन

भेद-बुद्धि से रहित होकर व्यक्ति को सर्वत्र एकात्म-दर्शन करने का उपदेश दिया गया है। आज प्रत्येक व्यक्ति परस्पर ईर्ष्या और द्वेष से घिरा हुआ है, जब व्यक्ति को कोई भी प्राणी आत्मा से पृथक नहीं दिखाई देगा अर्थात् जब वह सभी प्राणियों को आत्मा से अभिन्न समझने लग जाता है। उस समय सब प्राणियों के प्रति हीन अथवा घृणा की भावना को त्याग कर वह उनसे सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार समाज में प्रत्येक नागरिक निन्दा और तिरस्कार के भावों को छोड़कर प्रशंसा और वात्सल्य को महत्त्व देने लगते हैं। इस सिद्धान्त को श्रीकृष्ण ने 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (6.29) कहकर अपनाया है अर्थात् समस्त भूत आत्मा से ही उत्पन्न है और आत्मा ही उनका आधार है। यह भी कह सकते हैं कि वे सब आत्मा में ही स्थित हैं और आत्मा ही उन सबमें व्याप्त है। इस प्रकार 'आत्मैकत्व' भाव से युक्त मनुष्य सभी विकारों से रहित होकर शोक और मोह से कभी ग्रस्त नहीं होते। वर्तमान युग में अधिकतर मनुष्य शोक (depression) और मोह (attachment) से ग्रस्त होकर अज्ञानतावश प्राणियों में नानारूपता देखते हैं। अतः आत्मा का सब में दिग्दर्शन करने वाले के समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञान-कर्म समुच्चय

कर्मनिष्ठा अर्थात् अविद्या से मनुष्य मृत्यु को पार करता है और ज्ञाननिष्ठा अर्थात् विद्या से मनुष्य को अमृतत्व की प्राप्ति होती है। वर्तमान सन्दर्भ में केवल चिन्तन या केवल कर्म द्वारा जीवन जीने वाले व्यक्ति वस्तुतः एकांकी दृष्टि रखने वाले होते हैं, जीवन के लक्ष्य को पहचानकर कर्म और ज्ञान मार्ग के सामंजस्य को देखने वाला ही पूर्ण दृष्टि युक्त कहलाता है। आचार्य तुलसीराम शर्मा ने अविद्या को व्यावहारिक ज्ञान (practice) और विद्या को सैद्धान्तिक ज्ञान (knowledge) कहा है। इसी दृष्टि से कह सकते हैं कि व्यक्ति को पहले सभी विषयों को ग्रहण ;अविद्याद्ध कर, तत्पश्चात् उन विषयों पर चिन्तन (विद्या) कर उन्हें अपने जीवन के अनुभव में लाना ही ज्ञान-कर्म समुच्चय कहलाता है।

निष्कर्ष

अतः श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन-दर्शन इस प्रकार ज्ञातव्य है- ईश्वर को सर्वव्यापक मानने वाले में सहिष्णुता और समन्वयशीलता जैसे गुणों का वास होता है। त्यागपूर्ण जीवन जीने से समर्पण जागृत होता है। लोभ के परित्याग से आत्म-सन्तुष्टि मिलती है। निष्काम कर्मनिष्ठा से चित् की शु(सम्भव है। अभेद-बु(द्वारा अज्ञानता का नाश होने पर विकार रहित शान्तचित् प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान-कर्म समुच्चय को जानने से वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य का सर्वांगीण विकास ही भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है। भारतीय दर्शन के इतिहास में श्रीमद्भगवद्गीता एक अमूल्य, अद्वितीय एवं अनुपम

रत्न है जो साहित्यिक रचनों में शीर्षस्थानीय ग्रन्थ माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के आठरह अध्यायों में कथित उदात्त भावना युक्त सभी श्लोकों द्वारा निश्चित ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव है। यही वर्तमान काल में जीवन जीने की कला सीखाते हैं। किसी ने दोहे में सही कहा है –

**जोगी ताहि न जानिये जो गीताहि न जान।
जोगी ताही जानिये जो गीता ही जान।।**

वह योगी नहीं है जो गीता को नहीं जानता, वही योगी है जो गीता को जानता है।

सन्दर्भ

- 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति', ;सं.द्ध शिवकुमार गुप्त, भारतीय संस्कृति के मूलाधर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2002, पृ. 9
- शशि तिवारी, ईशावास्योपनिषद्, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2002, भूमिका, पृ. 8
- जीवेम शरदः शतम्। वाजसनेयी संहिता 36.24ऋ
- शतं जीवेम शरदः। तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.1.2.1,
- शतायुः पुरुषः। वही 1.3.7.7
- ईशावास्योपनिषद् 2
- पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति। शतपथ ब्राह्मण 14.6.2.14
- (अनु) नन्दकिशोर गोभिल, उपनिषदों का दर्शन, पृ. 199', जयदेव वेदालंकार, उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ. 299 पर उद्धृत ।
- एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। ईशावास्योपनिषद् 2
- तुलसीराम शर्मा, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2001, पृ. 172
- (सं) एच.पी. पोददार एवं सी.एल. गोस्वामी, कल्याण गीता-तत्वांक, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ. 42